नीम अँधेरे में

हुश्न तवस्सुम निहाँ

नीम अँधेरे में

कबाड़ी की आवाज सुनते ही विशाल बाबू के कान चौंकन्ना हो गए जैसे। ये.. तो... ये... तो...। वह मेन गेट की तरफ बढ़ते चले गए। उस स्वर की स्निग्धता ने जैसे अचानक ही उनका ध्यान भंग कर दिया। उन्होंने बाहर झाँक कर कबाड़ी को आवाज दी तो कबाड़ी लड़का उधर ही लौट पड़ा। समीप आ कर वह उन्हें नमस्कार करके खड़ा हो गया। उनकी आँखों में एक कौतुक की छाया भर गई। अनायास ही उनका अंतर किसी

नेपथ्य के शीर्ष पर जा के टँग गया। जहाँ से अतीत की एक रुपहली धारा बह निकली थी। बड़े कमजोर और उदास से वह उस लड़के के सामने खड़े थे। किसी सकारात्मक प्रश्नचिह्न की तरह। किंतु दुबारा लड़के की आवाज पर वे जैसे किसी गहरी सुरंग से उलट पड़े हों। अतीत की छाया यूँ भी इतनी दूर तक फैली होती है कि कितना भी बच कर चलो, पैरों में किरचियाँ घुस ही जाती हैं और रक्त की बूँदें जब-तब छलछला आती हैं। उनके निःशब्द होंठ अतीत का कोई कोना पकड़ते-पकड़ते काँप उठे -

'...त ...तुम शायद अनवर के बेटे हो ना...?' तो वह लड़का आँखों में एक विपन्न निरीहता लिए जबरन मुस्कराया था

'ज...जी... बाबू जी...' उसके बिखरे शब्द, आँखों की झीनी चमक और चेहरे की पीलाहट तत्क्षण जैसे उनमें ही कोई आस की टोह लेने लगी थी। उनके शब्द जमते-जमते फूट पड़े थे। कुछ आँखों से, कुछ गले से और कुछ अधरों से, उनका भर्राया स्वर और भीगने लगा था -

'घर में सब कैसे हैं**...?'** इस बार लड़का थोड़ा जाग गया। छूटते ही बोला था **-**

'अब्बू बीमार रहा करते हैं। काम पर भी नहीं जाते। अम्मी रहीं नहीं। और अब मैं घर सँभालता हूँ।' इतना कह कर लड़का खामोश हो गया। विशाल बाबू की आशा के बिल्कुल विपरीत। शायद लड़के के पास विशाल बाबू के लिए इतनी ही सूचनाएँ थीं। लेकिन, अभी-भी बहुत कुछ सुनने की ताब विशाल बाबू में बाकी थी। उनके कान अब भी फड़फड़ा रहे थे 'कुछ और... नहीं... नहीं...' और बहुत कुछ सुनने की आतुरता के लिए। अबोध मन अब भी कुछ ना सुन पाने जैसी स्थिति लिए निर्निमेष ताक रहा था उस लड़के को। पर उनके मर्म तक की पहुँच उस लड़के में थी ही कहाँ? वह अपना उत्तर समाप्त कर चुका था। किंतु, अंततः विशाल बाबू का अंतस जैसे कराहता-सा भीगते-भीगते स्फुटित हो आया था

'जहरा के घर का क्या हाल है**?'** उन्होंने दबी जुबान से पूछा तो लड़का चेहरे पर बिना कोई भाव लाए बोला था **-**

'बाबूजी, बूबू जब से मरीं, घर बर्बाद हो गया। बूबू का लड़का बंबई चला गया। बाकी इधर-उधर हो रहे। एक लड़की है वह बहुत परेशान रहती है। हमारे ही घर में रहती है।' थोड़ा थम कर साँस सँभाली उसने। फिर बोला -

'बड़े लड़के का नाम सरदार है। बूबू अक्सर उससे से या मेरे अब्बू से कहा करती थीं कि कोई तकलीफ पड़े तो जरूर विशाल भैया से जा कर कह देना। सुनती हूँ इस शहर के बड़े असरदार आदमी हैं। अफसर लोग बड़ी इज्जत देते हैं उन्हें।' कह कर लड़का शांत हो गया। विशाल बाबू चुपचाप उसका चेहरा टटोलते रहे। जाने क्या था, कि उनकी मुट्ठियाँ भिंचने लगी थीं। पर हाँ, इनमें हमेशा की तरह आक्रोश नहीं था। पर जाने क्या था, मन की मुट्ठियों को भींचना चाहा था कि कहीं छलक न पड़ें। या फिर अंदर व्याप्त टीस को मुट्ठियों में कस कर चकनाचूर करना चाहा था। बुझेपन से, थके मन से अंदर चले गए। कुछ देर में पुराने अखबारों और पत्रिकाओं का ढेर ले कर लौटे और उसे सौंप दिया। बोले -

'तू सारे ले जा, और जो तेरी समझ में आए वो अपनी बूबू की लड़की को दे देना। कहना तेरे विशाल मामू ने भिजवाया है।' लड़के ने कंधे से बोरियाँ उतार कर सारी रद्दी ठूँस ली और सलाम करके हाँक लगाता आगे बढ़ गया।

विशाल बाबू लड़के को विदा कर वापस लौट तो आए मगर मन पुनः पुराने काम से बँध नहीं पाया। बीते मौसमों की एक अजीब गंध भर गई थी भीतर। क्षण भर को लगा रग-रग में धीमा जहर घुलता जा रहा है और वह किसी भी क्षण प्राणहीन हो जाएँगे। वह यकीन नहीं कर पा रहे थे कि जहरा वक्त के बीहड़ से यूँ कूच कर गई। उनकी आँखों में जहरा के कई नए-पुराने चेहरे झिलमिला गए थे। हालाँकि कई बार उन्होंने इस संदर्भ में कुछ कहना चाहा था लेकिन उस लड़के के सीने से जैसे कितनी ही अदृश्य सीढ़ियाँ निकलती चली गई थीं। जाने कहाँ-कहाँ तक। कदाचित उस क्षितिज तक जहाँ से कोई भी संसार बड़ा ही दिव्य और विमोहक दिखाई दिया करता है। और उनके मन के पाँव न चाहते हुए भी सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ते चले गए थे। जाने कितने मौसम हरहरा के भर गए थे उनके भीतर। वह बेचैनी की झपेट में लॉन की तरफ बढ़ गए। उनके कदमों में जैसे हवा रम गई थी। जेहन में कितने ही अनुत्तरित बसंत फड़फड़ा के उठ बैठे थे। सहसा एक मीठी झड़प उनके जेहन को गुदगुदाने लगी थी

'जहरा..., तू ये अपनी चोटी छोटी कर ले।' विशाल ने उसकी चोटी खींचते हुए कहा था तो उसने हाथों में जैसे अंदेशे समेटते हुए पूछा था -

'क्...क्यूँ... क्या तुम्हें मेरी चोटी अच्छी नहीं लगती...?' तब विशाल उस अल्प वय में भी दार्शनिकों का-सा लहजा समेटे हुए सधे शब्दों में बोला था -

'क्या पता, तेरा शौहर कैसा मिले, कहीं तेरी इस चोटी को किसी खूँटे से गाय-भैंस की तरह बाँध कर रख दे तो...?' विशाल की ये विस्मयात्मक और अबोध चिंता जहरा को

कहीं गहरे जा कर चोट कर गई थी। वो, त्रयोदशी जहरा डबडबाई आँखों से उसे निहारती हुई बोली थी -

'विशाल, तुम मेरी चोटी रोज खींचा करो, अब मैं तुम्हें कुछ नहीं कहूँगी।' विशाल बाबू के कानों में जहरा के ये शब्द बार-बार बजने लगे। एक मासूम समर्पण उनके सम्मुख धीमे से आ कर एक आनत भाव लिए मुस्करा गया था। क्षण भर को उनका जी चाहा था आज वही अबोध जहरा मुस्काती सी उनके सामने आ कर बैठ जाए, और वह लॉन में बिखरा हर रंग, चंपा, चमेली, बेला मालती और जाने क्या-क्या उसकी चोटी में गूँथ दें। और बड़े प्यार से उसकी निखरी चोटी निहारते रहें।

लगभग पचास वर्ष पूर्व, उनके घर के पीछे एक मुस्लिम परिवार रहा करता था। नितांत विपन्नता की स्थिति में। जहरा उसी परिवार का अंश हुआ करती थी। तब विशाल बाबू की उम्र चौदह-पंद्रह की होती होगी। लेकिन शरीर की बाढ़, गठन और लंबाई ऐसी थी कि बीस से कम के न लगते थे। जहरा भी उनकी ही हम उम्र खूबसूरत सी लड़की थी जिससे उनका बालमन प्रायः अठखेलियाँ किया करता था। उनके हाथ अनायास ही उसकी खूबसूरत लंबी नागिन-सी चोटी बेखाख्त खींच लेते थे और वह विशाल पर चीख पड़ती।

एक रोज एक पड़ोसन ने विशाल की माँ के सामने एक व्यंग्यात्मकता के साथ ये बात रखी भी थी -

'बहनजी, ये जो आपके मकान के पिछवाड़े मुसलमान लड़की है न, लला पूरा दिन उसकी चोटी पकड़े घूमा करते हैं। बहुत खूबसूरत लड़की है। अपनी बिरादरी में ऐसी लड़की नहीं पाओगी। क्यूँ न उसी मुसलमान लड़की को अपनी बहू बना लेतीं...'

तब शायद माँ ने उन्हें हँस कर जवाब दिया था 'मेरा बेटा एक मुसलमान फकीर की दुआ और इबादत से जन्मा है। मुसलमान बहू आ जाएगी तो मैं उन फकीर का प्रसाद समझ कर स्वीकार कर लूँगी। आखिर मेरा इकलौता बेटा है।' माँ की बात सुन कर उनके चेहरे का रंग उड़ गया था।

एक दिन जहरा बड़ी उदास-सी चिंता में सनी उसके पास आ कर बैठ गई थी, और मुँह बिसूरती हुई बोली थी -

'कल एक आदमी आया था अब्बू से मेरी शादी की बात करने, हम लोग बहुत गरीब हैं, क्या पता मेरा ब्याह उसी से कर दें। ...तुम रोज आ कर मेरी चोटी खींचा करो...'

कहते-कहते जहरा की कमलिनी सी आँखें छलछला आई थीं। और विशाल किसी गहन शून्यता में डूबता-उतराता धक से रह गया था।

'क्...क्या... सचमुच जहरा चली जाएगी... क्या सचमुच...?' सारे शब्द टूट-टूट कर गले में छितर गए थे। अलबत्ता, उसने बड़ी खामोशी से जहरा की चोटी हाथों में ले लिया था फिर कुछ देर तक एकटक उसे निहारते रहने के बाद चोटी को मुट्ठियों में भींच लिया था जैसे वह अब चोटी को किसी को छूने भी न देगा। वैसे ही जैसे कोई बच्चा अपना प्रिय खिलौना इस भय से मुट्ठियों में भींच लेता है कि कहीं कोई उसे छीन न ले...। जहरा सहमी सी उसका भय, स्नेह और पीड़ा-मिश्रित चेहरा देखती रह गई थी।

विशाल उड़ती निगाहों से जाने कहाँ-कहाँ भटकने लगा था। लगा, गुलमोहर की देह से अनायास ही सारे मौसम झर गए। सामने एक ऐसा अकल्पित यथार्थ था जो छू-भर देने से भरभरा जाता। एक अकल्पित बियाबाँ में यक-ब-यक छूट जाने की स्थिति उसे हांट कर गई। अभी कही गई जहरा की बात दिशाओं के भार से सिर टकरा-टकरा के लौटती हुई उसके सीने में धधकने लगी। सिर पीछे की ओर झुका के चेहरे को आकाश के समानांतर करते हुए उसने आँखें बंद कर लीं। चेहरा सुर्ख हुआ जा रहा था। बंद आँखों में गुमनाम अँधेरे लिए रेत की चट्टानों पे क्षणों तक भटकता रहा। जाने कहाँ-कहाँ तक, कुछ क्षण पश्चात ही उसने जैसे सचेत होते हुए मुट्ठी खोली थी और वहीं गुँजलाई चोटी बड़े नेह से देखता रहा था। मानो पहली या अंतिम बार कोई बड़ी प्रिय वस्तु से बँध जाने की स्थिति; या समोह लेने की ललक। फिर एक तोष से जहरा की चोटी उसके हाथों में रखते हुए बोला था।

'ले जहरा..., अपनी शादी पर मेरी तरफ से अनमोल तोहफा, इसे सँभाल कर रखना... और एक झटके से उठ कर चला आया था, बिना ये देखे कि उसके बाद जहरा वहाँ कितनी देर तक बैठ कर अपनी चोटी पे उसकी छुअन या पकड़ महसूस करती रही थी। और फिर किस-किस तरह उसने मन ही मन उसे वचन दिया था कि वह उसके तोहफे को रूह की तरह महफूज और जान की तरह सँभाल के रखेगी। तब से सारी परिकल्पनाओं और स्वप्निल प्रवाहों पर विराम लग गया था। जहरा के बगैर मुहल्ले की गलियाँ सूनी हो गई थीं, और विशाल ने किसी अँधेरे कमरे में स्वयं को बंद कर लिया था। किंतु कब तक?

एक रोज घर की उमस और ख्यालों की अँधेरी सुरंग से उकता कर बाहर की दुनिया झाँकने की गरज से वह खिड़की-दरवाजों से गढ़ी हुई सीमा रेखा लाँघ आया था।

इधर-उधर होते हुए उसी इमली के दरख्त के समीप जा पहुँचा। जहाँ जहरा उसके संग इमली तोड़ती थी। अपनी हल्की-फुल्की देहयष्टि के चलते जहरा क्षण भर में ही इस डाल, उस डाल हो लेती। विशाल नीचे दोनों बाँहों पर जहरा का दुपट्टा फैलाए जहरा की फेंकी इमलियाँ रोकता रहता।

वह कुछ ही दूरी पर ठहरकर एक तोष के साथ उस पेड़ को निरखता रहा। जहरा की चंचल छाया किसी गिलहरी की भाँति झुरमुट में, और टहनियों पे फुदक रही थी। दरख्त के पीछे सूर्य के उतरते हुए सुर्ख गोले में जहरा का नारंगी चेहरा घुल गया था और थोड़ी धुंध छाते ही क्षितिज में समा गया था, और अब उस जगह एक लंबी चोटी लहरा रही थी। उसका चेहरा हल्का सा खिला और कुम्हला गया।

अतीत का संचय शायद ऐसे ही गुमनाम, तड़ित वर्तमानों से चुक जाने के लिए किया गया होता है। कभी-कभी अतीत-संचयन बड़ा ही लाभप्रद सिद्ध होता है। प्रायः तब, जब अतीत की खोह में ढेर सारे हरहराते मौसम भरे हुए होते हैं। जिनके नर्म पत्तों को छू कर लहराती नम हवा देर तक व्यक्ति का पीछा करती है। और शायद दूर तक भी। किंतु ये स्पर्श किसी तीक्ष्ण पीड़ा से मुक्ति दिलाने के बजाय और नए ठंडे दर्द और सन्नाटों के बेपनाह वृत्त भीतर भरते जाते हैं।

वह अपने भीतर खिंचती रिक्तता को झेलते हुए दरख्त की पुरानी उभरी हुई जड़ों पर जा बैठा। गिलहरियों की चख-चख में एक तरह की भावपूर्ण 'मैलोडी' फूट रही थी। तभी कुछ फासले पर खड़े सेमल ने सयास उसे खींच लिया। लगा जहरा की चुनरी के सारे बेल-बूटे सेमल की टहनियों से जा कर चिपक गए हैं जिनके बीच दो बड़ी-बड़ी आँखें मुसकाए जा रही हैं। वह जैसे मुग्ध हो गया।

तभी हाँफता हुआ एक कौआ डाली से चिपक गया। उसका तीखा, कसैला स्वर उसकी नस-नस में एक तड़प, एक छटपटाहट उघाड़ गया। ये डिस्टर्बेंस उसे बर्दाश्त न हुआ। जैसे किसी हरकते वृक्ष को कोई गर्म हवा छू गई हो। लगा उसी अधेड़ से व्यक्ति की रूखी-सूखी घिनौनी छाया जहरा की संदली देह से लिपटी जा रही है। चेहरे पर अजब हिंसकता के वृत्त खिंच आए। एक आवेश से उसने पास से एक कंकरी उठा कर कौवे की जानिब उछाल दिया। किंतु चालाक कौवा हाथ से कंकरी छूटते ही फुर्र हो गया। कंकरी हवा में लहराती किसी ओर चली गई थी। उसकी मुट्ठियां तैश से भिंच गईं। चेहरा तांबई हो गया। देह रीतने लगी ज्यों। तभी कैथेड्रल की घंटियों से फूटते 'पैथास' ने जैसे उसे निचोड़ डाला। साँझ के झुटपुटे के साथ ही कुहासा गहराता गया था, जिससे वातावरण में एक गलन पैदा हो गई थी और मन को एक खामोश उदासी चाटने लगी

थी। उसने कमर पर बँधा हुआ पूरी बाँह का स्वेटर खोल कर पहना और घर की तरफ बढ़ गया।

दस-बारह रोज बाद जहरा एक दिन उसके घर आई थी। बहुत खूबसूरत सा शरारा या गरारा पहन कर, चटख लाल रंग के सिल्केन कपड़े का सिला और उस पर हरी या धानी रंग की ओढ़नी पहन कर। माँ अक्सर उसके यहाँ अचार, दही या पूड़ी-सब्जी दिया करती थी। उसे दही देते हुए माँ ने मुस्काते हुए पूछा था -

'क्या रे जहरी, तू तो आज इस तरह सजी-सँवरी है जैसे तेरा ब्याह होनेवाला हो...'

वह कुछ नहीं बोली थी। तब विशाल कमरे की खिड़की से उसे देख रहा था। जब माँ बाहर हाथ धोने गई तो वह जहरा के पास आया और पूछा था -

'दिखने में तो तू जोड़ा-बागा से दुल्हन लगती है, मगर उदास क्यूँ है...?'

वह बुझी-सी बोली थी -

'मेरी ये खूबसूरत चोटी किसी रोज गाय या भैंस की तरह खूँटे से बँध उठेगी। आज उस अधेड़ से दिखनेवाले आदमी की घरवालियाँ आएँगी, मुझसे उसका ब्याह पक्का करने, दस दिन बाद ही निकाह हो जाएगा। आज तुम आना जरूर, मुझे अकेले-अकेले डर लगेगा।'

विशाल लेकिन जाने का साहस न जुटा पाया था। अपने ऊपरवाले कमरे की खिड़की से उसकी झोंपड़ी में भीड़-भाड़ देखता रहा था। दस दिन बाद जहरा का निकाह हो गया था। तब माँ ने शायद चाँदी की छागल या पायल उसकी माँ के पास भिजवाया था। और सचमुच जहरा अपनी चोटी से गाय-भैंस की तरह बाँध दी गई थी। तब से वह दिखाई नहीं दी।

किंतु उसके बाद जब भी कभी उन्हें जहरा की याद आई तो एक सवाल उमड़-घुमड़ कर उनके सामने खड़ा हो गया। उनका विद्रोही मन उन्हें झिड़कने लगा कि तुमने इसे कैसे बर्दाश्त किया, जब वो जालिम किस्म का आदमी जहरा की मोहक चोटी को डसने चला था। अनायास, और अनजाने ही विशाल बाबू की मुट्ठियाँ भिंचती चली गई थीं।